

## अध्याय-3

स्वतंत्रता से लेकर  
अब तक दक्षिण एशिया  
का स्त्रातजिक परिवेश

दक्षिण एशिया विश्व राजनीति का एक मार्मिक क्षेत्र है। इस क्षेत्र में विश्व की बड़ी शक्तियों की गहन रूचि सदैव से रही है। इस क्षेत्र की महत्ता का प्रमुख कारण दक्षिण एशिया की स्त्रातजिक अवस्थिति है।<sup>1</sup> एशिया का यह भाग पूर्व और पश्चिम के मध्य में पड़ता है और फारस की खाड़ी के क्षेत्र से यह भौगोलिक रूप से अति निकटवर्ती क्षेत्र है। विश्व की सबसे बड़ी आबादी वाले दो राष्ट्र इस क्षेत्र से सम्बन्धित हैं। चीन की सीमाएं दक्षिण एशिया से लगी हुई हैं एवं भारत इस क्षेत्र का प्रमुख राष्ट्र है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की एक महाशक्ति सोवियत संघ की सीमाएं भी दक्षिण एशिया के साथ लगी हुई थीं। इस भौगोलिक स्थिति ने दक्षिण एशिया को विश्व के एक महत्वपूर्ण क्षेत्र के रूप में स्थापित कर दिया।

एक कम्युनिस्ट राष्ट्र के रूप में चीन के अभ्युदय के बाद दूसरी महाशक्ति अमेरिका के लिये अनिवार्य हो गया कि वह दक्षिण एशिया में चीन के द्वारा साम्यवाद के प्रसार की सम्भावनाओं को रोकने का प्रयास करें। कालान्तर में खाड़ी क्षेत्र में एवं वियतनाम में अमेरिका जितना ही उलझता गया दक्षिण एशिया के प्रति भी उसकी रूचि भी बढ़ती गयी।

चीन-सोवियत विवाद के बाद सोवियत संघ चीन के प्रभुत्व को नियंत्रित करने के लिये दक्षिण एशिया को सर्वोच्च प्राथमिकता प्रदान करने लगा। इसी नीति के अन्तर्गत चीन की बढ़ती हुई शक्ति को रोकने के लिये भारत के माध्यम से प्रयास करने लगा। विशेषकर 1962 में भारत-चीन संघर्ष के बाद सोवियत संघ के लिये पूर्णतः अनुकूल स्थितियाँ निर्मित हो गयीं। सोवियत संघ का हित इसमें था कि भारत के माध्यम से चीन की शक्ति विस्तार पर रोक लगायी जाय और भारत का हित इसमें निहित था कि अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा के संदर्भ में किसी महाशक्ति का संरक्षण प्राप्त किया जाय।<sup>2</sup>

इस पृष्ठ भूमि में भारत को अपनी विदेश नीति का संचालन करना था। दक्षिण एशिया

में चूंकि दोनों महाशक्तियों की पारस्परिक प्रतिद्वन्दिता उत्कर्ष पर थी। इसलिए इसका स्वाभाविक प्रभाव भारत की विदेश नीति पर भी परिलक्षित होता है। इसी परिप्रेक्ष्य में भारत की विदेश नीति का विश्लेषण किया गया है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून एवं अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के विकास, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर तकनीकी प्रगति के चंचल प्रभाव एवं राष्ट्र राज्यों का राजनीतिक विकास कुछ ऐसे महत्वपूर्ण कारक हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को गतिशील चरित्र प्रदान करते हैं तथा गतिशील चरित्र की इस अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के परिप्रेक्ष्य में ही किसी राष्ट्र को अपने विदेश सम्बन्धों का निर्धारण करना होता है। इसलिए तार्किक रूप से एक बड़ी सीमा तक किसी राष्ट्र की विदेशनीति किसी भी युग में उस समय की अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों से नियंत्रित एवं प्रभावित होती है।<sup>3</sup> एक अर्थ में तो बदलते हुए विश्व-चक्र में विदेश नीति पर ही नहीं, आन्तरिक नीतियों पर भी अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ प्रभाव डालती हैं। विदेश नीति पर अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों का यह प्रभाव पहले की अपेक्षा अब और अधिक तीव्र रूप में पड़ता है।

भारत जैसे विशाल आकार एवं जनसंख्या वाले राष्ट्र के लिये तो यह और भी असंभव है कि वह विश्व राजनीति से अलग हटकर अपना विकास करें। मुख्य रूप से इसलिए कि शताब्दियों की आन्तरिक टूटन एवं शोषण के बाद भारत ने स्वतंत्रता प्राप्त की थी। भारत का प्रमुख लक्ष्य स्थायित्व प्राप्त करते हुए अपना आर्थिक पुनर्निर्माण करना था। यह उद्देश्य प्राप्त करने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सक्रिय भूमिका निभाना उसकी राजनीतिक आवश्यकता थी। इसके अतिरिक्त भौगोलिक स्थिति भी उसे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सक्रिय रहने के लिये प्रतिबद्ध करती है। फिर भारत के कारण विश्व के कई देशों पर तत्कालीन उपनिवेशवादी, साम्राज्यवादी शक्तियों ने अपना प्रभुत्व स्थापित किया था। इसलिए भारत की इन देशों के प्रति संवेदना भी स्वाभाविक थी। पराधीन देशों के स्वतंत्रता आन्दोलनों का समर्थन करना तो भारतीय

राष्ट्रीय कांग्रेस ने स्वतंत्रता के पूर्व ही प्रारम्भ कर दिया था तथा अपनी भावी अन्तर्राष्ट्रीय नीति का पूर्वाभास दे दिया था।

द्वितीय महायुद्ध के पूर्व विश्व राजनीति मुख्यतः सैन्य सामर्थ्य और सैनिक गुटों पर आधारित होती थी इसलिए गिने-चुने राष्ट्रों द्वारा ही विश्व के मानचित्र पर प्रभुत्व-स्थापना का प्रयास चलता रहता था। शेष विश्व के देश या तो इन युद्ध प्रिय और साम्राज्यवादी शक्तियों के शिकार थे या फिर इतने कमजोर थे कि उनकी भूमिका नगण्य रहा करती थी। यूरोप की कुछ शक्तियाँ विश्व राजनीति की कर्ता-धर्ता बनी हुई थी। लेकिन द्वितीय महायुद्धोत्तर विश्व में घटने वाली कुछ घटनाओं तथा उभरने वाली नवीन राजनीतिक प्रवृत्तियों ने विश्व राजनीति के स्वरूप में परिवर्तन किया। विशेषकर द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद विश्व में अमेरिका एवं सोवियत संघ के रूप में दो महाशक्तियों का अभ्युदय एवं द्विध्रुवी राजनीति का प्रारम्भ हुआ जिसके फलस्वरूप विश्वव्यापी शीत युद्ध प्रारम्भ हो गया। शीत युद्ध ने सभी राष्ट्रों की विदेश नीतियों को गंभीर रूप से प्रभावित किया।

यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के इस क्रान्तिकारी रूपान्तरण से प्रत्येक देश की विदेश नीति प्रभावित नहीं हुई किन्तु फिर भी कई राष्ट्र अपनी नई अन्तर्राष्ट्रीय आकांक्षाओं के साथ विश्व-मंच पर प्रकट हुए। महाशक्तियों के मध्य शीत युद्ध एवं शक्ति की राजनीति भारतीय स्वतंत्रता के समय अथवा द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् सम्पूर्ण विश्व को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित कर रही थी। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की दो परस्पर प्रतिद्वन्दी महाशक्तियों के रूप में प्रकट होकर विश्व-मंच पर हावी थे। 1947 तक अन्तर्राष्ट्रीय जगत द्विध्रुवी शक्तियों में विभाजित हो गया तथा शीत युद्ध की स्थिति निर्मित हो गयी। अमेरिका एवं सोवियत संघ विश्व की पेचीदी, संघर्षपूर्ण राजनीति में राजनैतिक, सैनिक, आर्थिक, कूटनीतिक, वैचारिक, सांस्कृतिक और वैज्ञानिक शक्तियों का

उपयोग अपने पक्ष में संतुलन बनाने और सम्पूर्ण संघर्ष की तैयारी करने लगे। इन महाशक्तियों ने यूरोप के राज्यों को ही नहीं वरन् एशिया-अफ्रीका के नव-स्वतंत्र राष्ट्रों को भी फुसलाते हुए या भय दिखाकर अथवा लालच देकर शीतयुद्ध के भंवर में उलझाना प्रारम्भ कर दिया। चीन के गृह युद्ध में साम्यवादी सेनाओं की विजय तथा चीन में शक्तिशाली सरकार की स्थापना ने शीतयुद्ध को और अधिक तीव्र रूप प्रदान कर दिया क्योंकि चीन सोवियत संघ से वैचारिक, राजनीतिक, सैनिक और भौगोलिक रूप से बहुत निकट था।<sup>१</sup> चीन के उदय से अमेरिका को सोवियत संघ के और अधिक शक्तिशाली हो जाने का अहसास हुआ। प्रतिक्रियास्वरूप नाटो, सीएटो और सेन्टो जैसे सैन्य संगठनों का जन्म सोवियत साम्यवाद के प्रभाव को नियंत्रित करने के लिये हुआ। सोवियत संघ ने पूर्वी यूरोप के देशों के साथ वारसा संधि की। इनके अतिरिक्त भी इन महाशक्तियों ने अनेक द्विपक्षीय सैन्य सन्धियों पर हस्ताक्षर किये।

विश्व राजनीति की इस वास्तविकता से नव-स्वतंत्र भारत का साक्षात्कार हुआ। अब भारत के समक्ष दो ही विकल्प थे जिनमें से अपने दूरगामी राष्ट्रीय हितों को दृष्टिगत रखते हुए भारत को कोई एक विकल्प चुनना था। पहला विकल्प तो यह था कि भारत शक्ति की राजनीति के तत्कालीन खेल में सक्रिय भाग लेने की इच्छा रखकर, शीत युद्ध में उतर जाये तथा सैनिक गठबन्धनों का सदस्य बनकर हाल ही में प्राप्त प्रभुसत्ता को एक हद तक समझौते के माध्यम से किसी एक शक्ति के समक्ष समर्पित कर दे। ऐसा करने पर निश्चय ही तीसरे विश्वयुद्ध की स्थिति निर्मित हो जाती क्योंकि भारत शक्ति-सन्तुलन को अस्त-व्यस्त कर देता।

दूसरा विकल्प यह था कि भारत स्वयं को द्विध्रुवीय संघर्ष से पृथक रखकर अपनी नव-स्वतंत्रता एवं संप्रभुता को सुरक्षित बनाये रखे। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में स्वतंत्र भूमिका का निर्वाह करते हुए अपने आन्तरिक राजनीतिक एवं आर्थिक विकास के प्रति गम्भीरतापूर्वक ध्यान

देते हुए देश का पुनर्निर्माण कर व विश्व में तनाव कम करने एवं संघर्ष पर नियंत्रण करने के लिये संयुक्त राष्ट्र संघ के भीतर एवं बाहर अपनी भूमिका का निर्वाह करे।<sup>6</sup> यह तय था कि इसके अतिरिक्त और कोई बेहतर और स्पष्ट विकल्प नहीं था। तटस्थ रहकर विश्व के प्रति उत्तरदायित्वों से अलग कट जाना, तीसरा विकल्प हो सकता था। किन्तु राष्ट्रीय हितों की पूर्ति के लिये वह तो लेशमात्र भी साधन नहीं बन पाता। प्रथम दोनों में से जो भी विकल्प भारत चुनता, वह निश्चय ही न केवल भारत के लिये वरन एक हद तक सम्पूर्ण विश्व के लिये विपरीत रूप में ही प्रभावकारी होता। अस्तु, भारत ने अपने राष्ट्रीय हितों (सुरक्षा, राष्ट्रीय-विकास एवं विश्व-व्यवस्था) की प्राप्ति के लिये तथा अपनी भौगोलिक, आर्थिक विकास, राजनीतिक परम्पराओं एवं आन्तरिक स्थितियों के प्रभावस्वरूप तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियों में दूसरे विकल्प को ही अपने विदेश नीति का आधार बनाते हुए शक्ति की शीत युद्ध कालीन राजनीति से अपने को पृथक कर लिया। न वाशिंगटन के आकर्षण को स्वीकार किया, न मास्को के।<sup>7</sup>

स्वतंत्रता के पूर्व ही अपनी इस भावी भूमिका को भारत के प्रधानमंत्री श्री जवाहर लाल नेहरू ने राष्ट्र के नाम प्रसारित अपने एक महत्वपूर्ण संदेश में (7 सितम्बर, 1946 को) कहीं स्पष्ट कर दिया था। श्री नेहरू ने कहा था कि "हम अन्तर्राष्ट्रीय अधिवेशनों में एक स्वतंत्र राष्ट्र की हैसियत से भाग लेंगे हमारी नीतियाँ स्वयं की निजी ही होगी। नीति निर्धारण के विषय में हम किसी राष्ट्र के पिछलग्गू नहीं बनेंगे। हम आशा करते हैं कि अन्य राष्ट्रों के साथ हमारे सीधे और मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रहेंगे। हम विश्व शान्ति और मानवीय स्वतंत्रता के विकास में हम अन्य राष्ट्रों के साथ सहयोग देकर इनकी सहायता करेंगे।"<sup>8</sup>

इसी ऐतिहासिक नीति के संदर्भ में उन्होंने कहा था—"हम यह प्रस्ताव करते हैं कि हम यथाशक्ति, शक्ति संतुलन की गुटबाजी से दूर रहेंगे, ऐसे ही राष्ट्र जिन्होंने एक दूसरे के विरुद्ध विगत विश्वयुद्ध छेड़ा था और अपनी ताकत बढ़ाकर उससे भी अधिक विनाशकारी विश्वयुद्ध

छेड़ने की परस्पर होड़ कर रहे हैं। स्वतंत्रता की प्राप्ति से पूर्व ही नेहरू द्वारा प्रकट किया गया यह नीति मन्तव्य स्पष्ट करता है कि भारत महाशक्तियों की शक्ति-स्पर्धा के संदर्भ में पूर्णतः सचेत था। भारत के राष्ट्रीय हितों की रक्षा एवं वृद्धि के लिये यही एकमात्र उपयुक्त विकल्प था। भारत अपने कटु अनुभवों के कारण साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद एवं प्रजातिवाद को किसी भी रूप में स्वीकार नहीं कर सकता था। पश्चिमी गुट, इन्हीं प्रवृत्तियों का नया संस्करण था। दूसरी ओर अपनी राष्ट्रीय स्वतंत्रता का संघर्ष भी जिस देश ने अहिंसात्मक शैली में लड़ा हो उसके लिये हिंसक शैली के साम्यवाद का वरण करना भी असम्भव था और फिर भारत की मूल आस्था विश्व शान्ति में थी। विश्व शान्ति के लिये सम्पूर्ण शक्ति के साथ अपनी भूमिका तय करने के लिये इसके अतिरिक्त और कोई विकल्प शेष नहीं था। इसके साथ ही भारत अपनी तरह उन पराधीन उपनिवेशों का भाग्य निर्धारण भी करना चाहता था जो तत्कालीन साम्राज्यवादी, उपनिवेशवादी शक्तियों के नियंत्रण से मुक्त होकर स्वतंत्र जगत में अपना अस्तित्व योजना चाहते थे। इन विद्यमान शक्तियों में शक्ति-प्रतिस्पर्धा से सम्पूर्ण स्वाभिमान के साथ अलग रखते हुए विश्व राजनीति में अपनी सार्थक भूमिका निभाने के अतिरिक्त कोई श्रेष्ठ विकल्प भारत के पास शेष नहीं था।

भारत के राष्ट्रीय हितों के लिये हालाँकि यह आवश्यक था कि सैनिक संगठनों से दूर रहा जाये जिससे तीसरे महायुद्ध को रोका जा सके और चूँकि एशिया और अफ्रीका के कई देशों को राष्ट्रीय हितों में भी भारत के साथ समानता थी इसीलिए भारत की विदेशनीति में यह तत्व स्वतः विकसित होता गया कि विश्व राजनीति में अपनी प्रभावशाली भूमिका एशिया अफ्रीका के इन राष्ट्रों को संगठित करके ही निभाई जा सकती है। इन राष्ट्रों की एकता यद्यपि सरलता से सम्भव नहीं थी फिर भी यह तय था कि इनका समूह एक ऐसी "तीसरी शक्ति" का निर्माण कर सकता था जो विश्व राजनीति में व्याप्त शीतयुद्ध या युद्ध की आशंकाओं को

दूर कर सके, शान्ति के क्षेत्र का विस्तार करने में सहायक हो, संघर्ष की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर नियंत्रण कर सके, साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद के विरुद्ध मिलजुलकर कार्य करते हुए अपनी सुरक्षा, आर्थिक विकास एवं विश्व व्यवस्था के लक्ष्यों को प्राप्त कर सके।<sup>10</sup> इस दिशा में नेहरू द्वारा स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व ही प्रयास प्रारम्भ किये जा चुके थे। यह विचारधारा स्वतंत्रता आन्दोलन के समय ही विकसित हो रही थी कि एशिया-अफ्रीका के पद-दलित राष्ट्रों के प्रति संवेदना का भाव भारतीय नेताओं के मन में था। 1927 के ब्रुसेल्स में आयोजित पद-दलित राष्ट्रीयताओं के सम्मेलन में भी नेहरू ने इन राष्ट्रीयताओं की निकटता पर बल दिया था।

23 मार्च, 1947 को नई दिल्ली में एशियन रिलेशन्स कान्फ्रेंस का आयोजन भी इसी नीति को विकसित करने के लिये किया गया था। नेहरू ने अपने प्रभावशाली एवं विदेशनीति चिन्तन पर आधारित वक्तव्य में एशिया-अफ्रीका के लिये अपनी नीति स्पष्ट की थी। नेहरू ने कहा था कि "हम इतिहास के नये मोड़ पर खड़े हैं जहाँ एक युग का अन्त और दूसरे युग की शुरुआत होती है, एक ऐसे जलसंभार पर जो कि मानवीय इतिहास का काल विभाजन करता है। यहाँ से हम पीछे मुड़कर अपने लम्बे भूतकाल पर एक नजर डाल सकते हैं और उस दीर्घकालीन भविष्य को भी देख सकते हैं जो कि युग निर्माण की करवट बदल रहा है, यह अवसर काफी निश्चलता के बाद अचानक आया है जिसमें कि हम विश्व की गतिविधियों में फिर से अहम भूमिका निभा सकते हैं।"<sup>11</sup>

स्वतंत्रता के बाद शीतयुद्ध की विद्यमान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में पाकिस्तान ने पश्चिमी सैन्य संगठनों की सदस्यता प्राप्त कर ली जबकि भारत असंलग्न था। पाकिस्तान की सदस्यता का परिणाम यह हुआ कि दक्षिण एशिया में महाशक्तियों की द्विध्रुवीय राजनीति का प्रवेश हो गया।



चीन के उदय का भी भारतीय विदेश नीति पर गम्भीर प्रभाव पड़ा। चीन के उत्तरी सीमा में एक शक्तिशाली एक महत्वाकांक्षी राष्ट्र के रूप में उदय से भारत की प्रादेशिक अखण्डता एवं सुरक्षा पर प्रश्नचिन्ह लग गया। नेहरू की प्रारम्भिक चीन नीति इसी प्रश्न चिन्ह के सकारात्मक उत्तर खोजने का प्रयास थी।

शीतयुद्ध, जो द्वितीय विश्व युद्ध के तुरंत बाद शुरू हुआ था, 1989 के अन्त में समाप्त हो गया। दोनों महाशक्तियों ने परस्पर टकराव का मार्ग छोड़ दिया, परन्तु शीघ्र ही सोवियत संघ डगमगाने लगा तथा 1991 के अन्त के साथ ही उसका 'विधिवत' विघटन हो गया। भारत सहित, संसार के लगभग सभी देश इस नई स्थिति के लिये तैयार नहीं थे। इस आकस्मिक घटना ने संयुक्त राज्य अमेरिका को एकमात्र महाशक्ति के रूप में प्रस्तुत किया। सभी देशों को अपने राजनय और अपनी नीतियों का पुनर्विलोकन करना आवश्यक हो गया था।<sup>12</sup> स्वाभाविक था कि भारत-अमेरिका संबंधों में भी परिवर्तन होता। प्रोफ़ेसर बी०के० श्रीवास्तव ने उत्तर शीत युद्ध काल में भारत-अमेरिका संबंधों की चर्चा करते हुए लिखा था कि "1990 के दशक के आरम्भ में एक ऐसा नया संसार उभरा जोकि पहले से कहीं अव्यवस्थित (Chaotic) था तथा पहले से अधिक हिंसा की प्रवृत्ति पर आधारित था।" संसार दो शक्ति गुटों में विभाजित नहीं रह गया। प्रोफ़ेसर श्रीवास्तव ने आगे लिखा था कि "शीतयुद्ध की समाप्ति के साथ ही पूर्व और पश्चिम के बीच वैचारिक मुकाबला (Confrontation) भी समाप्त हो गया। आज संसार में थोड़े ही देश ऐसे बचे होंगे जो लोकतंत्र की शपथ नहीं लेते।" अर्थात् लगभग सभी देश लोकतांत्रिक प्रणाली को अपना रहे हैं। केन्द्रीय नियंत्रित अर्थ व्यवस्थाओं का स्थान प्रतिस्पर्धा पर आधारित (Market Economies) अर्थव्यवस्थाओं ने ले लिया है। सोवियत संघ के विघटन के पश्चात् अमेरिका के साथ भारत के संबंधों में निश्चय ही परिवर्तन हुआ है।

भारत, 1996 के पूर्व, चीन और पाकिस्तान, दोनों की ओर से अपनी सुरक्षा के लिए खतरा अनुभव करता रहा था। इस खतरे की प्रबलता समय-समय पर कम या अधिक होती रही। परन्तु भारत ने कभी अमेरिका की ओर से अपनी सुरक्षा के लिये खतरा अनुभव नहीं किया।<sup>13</sup> भारत ने सदा यह अनुभव किया कि पाकिस्तान के साथ अमेरिका की घनिष्ठ मैत्री के कारण, भारत के लिए अमेरिका की ओर से अप्रत्यक्ष संकट आता रहा है। एक दीर्घकाल तक भारत अपनी रक्षा आवश्यकताओं की आपूर्ति के लिये सोवियत संघ पर निर्भर रहा। संयुक्त राज्य अमेरिका ने सदा ही सोवियत संघ के साथ भारत के विशेष संबंधों को शीतयुद्ध के संदर्भ में देखा। उसका यह निष्कर्ष था कि भारत-सोवियत मैत्री से दक्षिण एशिया में सोवियत संघ की स्थिति मजबूत होती थी। अमेरिका की यह धारणा भारत-अमेरिका संबंधों के मार्ग में दीर्घकाल तक बाधा नहीं रही। अमेरिका को इस बात पर विशेष आपत्ति थी कि भारत ने अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप की निन्दा न करके, एक प्रकार से उसका अनुमोदन किया था। भारत ने, अपने हितों का विरोध न करने पर भी, अमेरिका की अनेक बार आलोचना की थी। उधर, अमेरिका द्वारा, अफगानिस्तान संकट के समय, पाकिस्तान को बड़ी मात्रा में सैनिक सहायता देना, भारत को अपनी सुरक्षा के लिये गम्भीर खतरा प्रतीत हुआ। इस प्रकार भारत-अमेरिका-पाकिस्तान-सोवियत संघ के बीच विचित्र पारस्परिक संबंध उत्पन्न हो गये थे।

शीतयुद्ध की समाप्ति पर विचित्र पारस्परिक संबंधों का भी अन्त हो गया। 1980 के दशक के अन्त में अफगानिस्तान से सोवियत सेनाओं को वापस बुला लिया गया। सोवियत संघ के विघटन के पश्चात् पश्चिमी देशों के साथ घनिष्ठ और मैत्रीपूर्ण संबंधों का विकास करना रूस के लिये प्राथमिकता हो गया था। जैसे-जैसे अमेरिका और रूस एक दूसरे के निकट आते गये, वैसे-वैसे भारत जैसे, रूस के परम्परागत मित्रों की अवहेलना होने लगी। भारत-रूस

संबंधों में कमी का दोनों देशों के व्यापार पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा। उदाहरण के लिये 1989-90 में भारत द्वारा रूस को अपने कुल निर्यात का 16.1 प्रतिशत निर्यात किया गया। यह प्रतिशत 1991-92 घटकर 9.1 रह गया। भारत और सोवियत संघ के परम्परागत रक्षा संबंधों में भी तनाव उत्पन्न हो गया।

अप्रैल 1993 में संयुक्त राज्य अमेरिका के विदेश मंत्री वारेन क्रिस्टोफर ने कहा था कि रूस के लिये अमेरिका द्वारा सहायता के कार्यक्रम से अमेरिका के राष्ट्रीय हितों को सुरक्षित रखा जा सकेगा तथा अमेरिका के श्रमिकों, कृषकों और व्यापारियों के लिये नये बाजार खोले जा सकेंगे। अमेरिका और सोवियत संबंधों में, उत्तर-शीतयुद्ध काल में, अप्रत्याशित सुधार से भारत और पाकिस्तान के साथ अमेरिका के संबंध नकारात्मक रूप से प्रभावित हुए। अफगानिस्तान से सोवियत सेनाओं की वापसी के परिणामस्वरूप अमेरिका की रणनीति में पाकिस्तान का महत्व निश्चय ही कम हुआ। शीतयुद्ध की समाप्ति के पश्चात् अमेरिका ने इस बात पर बल देकर कहा कि दक्षिण एशिया में उसकी नीति का उद्देश्य क्षेत्रीय शान्ति और स्थायित्व था। इस पृष्ठभूमि में अमेरिका ने परमाणु अप्रसार के प्रश्न को एशिया में उच्चतम प्राथमिकता प्रदान की।

भारत का यह निर्णय कि वह अपने परमाणु कार्यक्रम को बंद नहीं करेगा, भारत-अमेरिका संबंधों में विवाद का एक प्रमुख मुद्दा बना हुआ है।<sup>14</sup> भारत की स्थिति यह है कि वह अपना परमाणु कार्यक्रम केवल इस शर्त पर समाप्त कर सकता है कि परमाणु निरस्त्रीकरण के लिये सभी राष्ट्रों की प्रतिबद्धता व्यक्त की जाए। यह प्रतिबद्धता समय-सीमा के अनुसार की जाए। परन्तु, भारत के इस विचार को अमेरिका में कोई भी गम्भीरता से नहीं लेता। साथ ही, बड़ी शक्तियों को संतुष्ट रखने के लिये भारत ने 1974 के पश्चात् एक भी परमाणु परीक्षण नहीं किया। अमेरिका का यह मानना है कि यदि भारत अपना परमाणु कार्यक्रम छोड़ दे तभी उसकी वास्तविक सुरक्षा सुनिश्चित हो सकेगी।

अमेरिका के राष्ट्रपति कार्टर (1977-80) के प्रशासन काल से ही निरन्तर यह प्रयास रहा है कि भारत और पाकिस्तान दोनों परमाणु अप्रसार संधि पर हस्ताक्षर करें। भारत ने इस संधि को भेदभाव पर आधारित बताते हुए, कई धमकियों के बावजूद, हस्ताक्षर नहीं किये। पाकिस्तान ने राष्ट्रपति बुश और क्लिंटन दोनों को यह स्पष्ट कह दिया था कि वह अप्रसार संधि पर केवल तभी हस्ताक्षर करेगा जब भारत ऐसा कर देगा। भारत ने अपने ऊपर दबाव के बावजूद अपने अग्नि और पृथ्वी प्रक्षेपास्त्र कार्यक्रमों को भी निलंबित नहीं किया। जैसा कि अध्याय 8 में स्पष्ट किया गया है, भारत ने व्यापक परमाणु परीक्षण निषेध संधि (CTBT) पर भी (भेदभाव के आधार पर) हस्ताक्षर नहीं किए। शीतयुद्ध समाप्त होने के लगभग आठ वर्ष पश्चात् भी अप्रसार संधि (NPT), व्यापक परीक्षण निषेध संधि (CTBT), प्रक्षेपास्त्र कार्यक्रम, कश्मीर तथा मानव अधिकार जैसे मुद्दों पर भारत और अमेरिका के बीच गम्भीर मतभेद बने हुए थे।

अमेरिका की स्थिति में, कश्मीर के प्रश्न पर मात्र इतना परिवर्तन हुआ कि वह यह मान गया कि इस प्रश्न को अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर न उठाया जाय और द्विपक्षीय वार्ता के द्वारा सुलझाया जाय। परन्तु, अमेरिका अब भी कश्मीर को विवादास्पद क्षेत्र ही कहता जा रहा है। संयुक्त राष्ट्र महासभा के 52वें अधिवेशन के अवसर पर 1997 में राष्ट्रपति बिल क्लिंटन ने प्रधानमंत्री इन्द्र कुमार गुजराल से भेंट करने की इच्छा व्यक्त की। वह पाकिस्तानी प्रधानमंत्री को भी मिलने वाले थे। गुजराल ने स्पष्ट किया वह राष्ट्रपति क्लिंटन से सहर्ष मिला चाहेंगे बशर्ते कि केवल भारत-अमेरिका द्विपक्षीय विषयों पर ही बातचीत हो। अमेरिका ने भारत का यह विचार सुन करके यह स्पष्ट संकेत दिया कि वह कश्मीर के प्रश्न पर कोई मध्यस्थता करने का विचार नहीं रखता। अमेरिका इस बात से प्रसन्न था कि कश्मीर के प्रश्न को गुजराल और नवाज शरीफ़ प्रत्यक्ष वार्ता के द्वारा सुलझाने का प्रयास कर रहे थे। अमेरिका ने अगस्त 1997

में यह स्वीकार किया कि कश्मीर भारत और पाकिस्तान की पारस्परिक बातचीत का विषय था।

अमेरिका के विलिंग्टन प्रशासन ने यह स्वीकार किया कि वह समूचे एशिया को एक महत्वपूर्ण क्षेत्र मानता है। उनका कहना था कि इस क्षेत्र के भविष्य के लिये भारत और चीन दोनों से समान हित के विषयों पर बातचीत करने के लिये तैयार था। अमरीकी प्रवक्ता ने यह भी कहा कि विलिंग्टन प्रशासन भारत-पाकिस्तान संबंधों को स्थायित्व प्रदान करना चाहता था, ताकि वे अतीत के उतार चढ़ाव वाले मार्ग से हट सकें। अमेरिका दक्षिण एशिया के सभी देशों के साथ अपनी मित्रता को प्रगाढ़ बनाना चाहता है।

अमेरिका ने यह भी स्वीकार किया कि गुजराल सिद्धान्त एशिया के लिये हितकर सिद्ध होगा। भारत और बांग्ला देश तथा भारत और नेपाल के बीच जो समझौते 1996 में किये गये, अमेरिका ने उनकी सराहना करते हुए गुजराल सिद्धान्त को इनका श्रेय दिया।

## संदर्भ—सूची

1. एल० जे० केविक : इंडियाज क्वेस्ट फार सिक्वोरिटी पृ० 3
2. माइकेल ब्रेचर सेलिक एस० हरीसन, (सं०) : इण्डिया एण्ड द यूनाइटेड स्टेट्स (न्यूयार्क, 1962) पृ० 53
3. के० पी० करुणाकरन : आउट साइट द कंटेस्ट : ए स्टडी आफ नान-एलाइनमेंट एण्ड द फारेन पालिसीज आफ सम नान-एलाइन्ड कन्ट्रीज पृ० 76
4. उमा सिंह : इण्डिया पाकिस्तान रिलेशन्स इन ए हिस्टारिकल पार्सपेक्टिव वर्ल्ड फोकस, वाल्यूम 22 नं० 10-11, 12 अक्टूबर, नवम्बर, दिसम्बर 2001, पृ० 33
5. माइकेल ब्रेचर, सेलिक एस० हरीसन (सं०) इण्डिया एण्ड दू यूनाइटेड स्टेट्स (न्यूयार्क, 1962) पृ० 53
6. कुलदीप नैयर : डिस्टेंट नेवर, पृ० 54-55
7. वी०पी० मेनन : द स्टोरी आफ द इंटिग्रेसन आफ द इण्डियन स्टेट्स ओरिएण्ट लांग मैन्स, मद्रास 1961 पृ० 386
8. वही पृ० 394
9. के० आ० पिल्लई इण्डियाज फारेन पालिसी पृ० 29
10. वही, पृ० 30
11. वही, पृ० 32
12. सी० दासगुप्ता : वार एण्ड डिप्लोमेसी, पृ० 211
13. एस०एस० खेड़ा : इण्डियाज डिफेन्स प्रॉब्लम्स, पृ० 107
14. वही, पृ० 117,